कंधमाल की हिंसा बनाम धर्मनिरपेक्षता

अभय कुमार दुबे

उड़ीसा के कंधमाल का हिंसक आंदोलन हमारी राजनीति के सांप्रदायिक संस्करण का एक ऐसा चेहरा है, जिसे समझना काफी मुश्किल है। कहने के लिए यहां भी विश्व हिंदू परिषद और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ उन्हीं भूमिकाओं के साथ मौजूद हैं, जो इन ताकतों द्वारा इस तरह की परिस्थितियों में अक्सर निभाई जाती हैं, लेकिन ये संगठन जिन शक्तियों से टकरा रहे हैं वे अलग तरह की हैं। ये शक्तियां हैं पिछली एक सदी से इस इलाके में सक्रिय ईसाई धर्मप्रचारवादी और हाल ही जड़ जमाने वाला माओवादी सशस्त्र आंदोलन। कंधमाल की उस जनता का चरित्र भी काफी भिन्न है, जिसके ऊपर उनका सांप्रदायिक प्रयोग पिछले तीस-पैंतीस साल से चल रहा है। इस जनता में हिंदू बनाम मुसलमान का प्रचलित द्वंद्व नहीं है। यहां आदिवासी जनता है, जो इस क्षेत्र में बहुसंख्यक है और दलित जनता है, जिसके ऊपर ईसाई धर्मांतरण का खासा प्रभाव है। इन दोनों के बीच संविधान में दिए आरक्षण संबंधी लाभों को लेकर होने वाली होड़ का तनाव है, जिसका लाभ संघ परिवार भी उठाना चाहता है और ईसाई धर्मप्रचारवादी भी।

दरअसल, कंधमाल एक चुनौती है, जिसका जवाब अभी

तक हमारा सांप्रदायिकता विरोधी मानस नहीं खोज पाया है। सांप्रदायिक राजनीति के आलोचक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करके रह जाते हैं, क्योंकि उनकी पूरी सेकुलर संवेदनशीलता मुख्यतः हिंदू बनाम मुसलमान के खांचे को खंगालते-खंगालते किसी और परिस्थिति से निबटने के काबिल नहीं रह गई हैं। इस बार जब कंधमाल में आग भड़की, तो क्रिसमस का त्योहार कोई चार महीने दूर है। पिछले साल जब क्रिसमस आया तो कंधमाल जल रहा था। इस साल पता नहीं क्या होगा? हुआ यह था कि जिस गांव में ईसाई पूर्व-अनुमति लेकर क्रिसमस का समारोह करना चाहते थे, विश्व हिंदू परिषद ने उसी गांव में उसी दिन एक यज्ञ करने का ऐलान कर दिया था। यह भड़काऊ घोषणा करने वाले थे विहिप के नेता लक्ष्मणानंद सरस्वती, जिनके हाथ में पिछले कई दशकों से दलितों की शुद्धि यानी हिंदू धर्म में वापसी की मुहिम का नेतृत्व था। इस बार की हिंसा इन्हीं लक्ष्मणानंद सरस्वती की हत्या का फलितार्थ है, जिसकी जिम्मेदारी माओवादियों ने ली है। दरअसल, नक्सली तो उड़ीसा की धरती पर 1967 के जमाने से ही सक्रिय हैं, पर हिंदुत्ववादी शक्तियों पर उनका ऐसा हमला पहली बार हुआ है जिसके कारण भाजपा भी हतप्रभ रह गई है।

ईसाई-धर्मप्रचारवादी यह दिखाने की कोशिश कर रहे हैं कि उड़ीसा में उनके मतावलंबियों के साथ हिंदुत्ववादियों द्वारा वही किया जा रहा है, जो गुजरात में मुसलमानों के साथ 2004 में बजरंग दल वगैरह ने किया था। उस समय कारसेवकों को ले जा रही एक ट्रेन (साबरमती एक्सप्रेस) रहस्यमय ढंग से जला दी गई थी और इस समय एक हिंदुत्ववादी नेता रहस्यमय ढंग से मार डाला गया है। इन दोनों प्रकरणों की प्रतिक्रिया एक ही तरह की जरूर है, पर उड़ीसा की परिस्थिति की गुजरात से तुलना नहीं की जा सकती। वहां मुसलमानों की हत्या की मुहिम में राज्य की संस्था ने आपत्तिजनक भूमिका निभाई थी, जिसके दस्तावेजी प्रमाण उपलब्ध हैं पर उड़ीसा में नवीन पटनायक की सरकार का सांप्रदायिक तनाव भड़काने से स्पष्ट रूप से कोई ताल्लुक नहीं दिखता। इसी तरह ईसाइयों को जिन राहत शिविरों में रखा गया है, उनकी हालत और सरकारी देखभाल की गुजरात में हिंसा-पीड़ित मुसलमानों के राहत शिविरों से कोई तुलना नहीं की जा सकती। सांप्रदायिकता की प्रचलित समझ के साथ यही सबसे बड़ी दिक्कत है कि वह अपना एक सार्वभौमिक ढांचा बनाना चाहती है। हर जगह की सांप्रदायिकता को एक ही चश्मे से देखने की कोशिशों का ही नतीजा है कि उड़ीसा को 'ईसाइयों का गुजरात' बताने वाले सेकुलर योद्धाओं को बयानबाजी करते हुए आसानी से देखा जा सकता है, जबकि असलियत यह है कि सांप्रदायिकता की संरचनाएं अलग-अलग हैं। कहने के लिए गुजरात और उत्तरप्रदेश दोनों ही सांप्रदायिकता की प्रयोगशालाएं हैं, पर दोनों को एक ही तरह के बौद्धिक औजारों से नहीं समझा जा सकता। दानों जगह सांप्रदायिक प्रयोगों के परिणाम अलग-अलग निकले हैं। इसी तरह उड़ीसा भी अलग है।

वहां इस प्रश्न के केंद्र में धर्म परिवर्तन से जुड़ा विवाद है, जिसे सेकुलर शक्तियां, अभी तक हकीकत के आईने में देखने के लिए तैयार नहीं हुई हैं। जब भी दिल्ली जैसी जगहों पर इस मसले पर बहस आयोजित की जाती है, ऐसा लगता है कि इस समस्या का समाधान उदारतावादी राजनीतिक सिद्धांत पर चर्चा करने से हो जाएगा। धर्म परिवर्तन को एक लोकतांत्रिक हक के रूप में मान्यता देना एक बात है और सामूहिक धर्म परिवर्तन और व्यक्तिगत धर्म परिवर्तन के बीच फर्क न कर पाना दूसरी बात है।

सवाल यह है कि क्या आदिवासियों या दलितों की सामाजिक और धार्मिक रूप से कमजोर स्थिति का फायदा

उठाकर सामूहिक धर्म परिवर्तन की मुहिम चलाना संविधानप्रदत्त उदारतावादी अधिकारों के दायरे में आता है? हो सकता है कि तकनीकी रूप से आता हो, लेकिन समझने की बात यह है कि अंतःकरण और विवेक के आधार पर व्यक्तिगत रूप से धर्मांतरण करने और एक धर्म की संख्या बढ़ाने की संगठित मुहिम चलाने को एक ही तराजू में रखकर नहीं तौला जा सकता। आज वह अस्मिता का प्रश्न है और यह अस्मिता अक्सर राजनीतिक रूप लेकर राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया के साथ अपना अवैध संबंध कायम कर लेती है। धर्म परिवर्तन की प्रतिक्रिया में देशभर में चले शुद्धि आंदोलन के पीछे यही परिघटना काम कर रही है। इस सिलसिले में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि अगर तमिलनाडु के धर्मपुरी जिले में कुछ दलितों ने इस्लाम धर्म न अपनाया होता तो ठंडी पड़ी विहिप में वह जान न पड़ती जिसके गर्भ से राम-जन्मभूमि आंदोलन जैसी विनाशकारी राजनीतिक ताकत ने जन्म लिया। जब तक हमारा सेकुलर सार्वजनिक जीवन धर्मांतरण के मुद्दे को विशिष्ट भारतीय परिस्थितियों में हल करने की जुगत नहीं करेगा, तब तक कंधमाल में चर्च फूंके जाते रहेंगे, ननें जिंदा जलाई जाती रहेंगी। कभी इस हिंसा के केंद्र में कोई जीवित लक्ष्मणानंद सरस्वती होगा, तो कभी उसकी कत्ल की गई देह होगी। चोट हर बार धर्मनिरपेक्षता पर ही होगी।

(लेखक विकासशील समाज अध्ययन पीठ के भारतीय भाषा कार्यक्रम में संपादक हैं।)